वेदविद्या के क्षेत्र में प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल का योगदान

डा. वेदकुमारी घई

प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन उनके द्वारा रचित विशाल ग्रन्थ-राशि से होते हैं। वेद, पुराण, संस्कृति, मुद्राशास्त्र, पुरातत्त्व कला आदि सभी क्षेत्रों में उनका योगदान विस्मयकारी है।

वेदविद्या के क्षेत्र में उनके द्वारा लिखित साहित्य उतना विशाल नहीं है जितना अन्य क्षेत्रों में है परन्तु उसकी गहराई को मापना अत्यन्त कठिन है। प्रो. अग्रवाल प्रमुख वेदज्ञों में अग्रणी थे, जो वेदों के शब्द और स्थूल अर्थ तक ही नहीं बल्कि उनमें निहित वेद्य सत्य तक पहुँचते हैं। '**परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः**' ब्राह्मणग्रन्थों की इसी उक्ति को ध्यान में रखकर उन्होंने वेदमन्त्रों के गूढ़ रहस्यों को खोजकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का यत्न किया है। वेदों में रहस्य तक पहुँचने की विधि के विषय में वे लिखते हैं–"सत्य तो यह है कि जो हृदय से इस बात का अभिलाषी हो कि वेद का रहस्य ज्ञान समझे, उसे परिभाषाओं के अनन्त वाङ्मय को आत्मसात् करने के लिए उद्यत हो जाना चाहिए। पूर्व हो या पश्चिम, वेदार्थ की समस्या देशकृत या कालकृत नहीं है। वह तो अध्यात्म दृष्टिकोण पर निर्भर है। उसके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की और स्वयं वेद की परिभाषात्मक शब्दावली को स्पष्ट समझना आवश्यक है।"[1]

'वैदिक परिभाषाएँ' शीर्षक लेख में प्रो. अग्रवाल इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि इन परिभाषाओं की समझ के अभाव में पश्चिमी विद्वान् वैदिक सृष्टिविद्या के रहस्यों को प्रायः उद्घाटित नहीं कर पाये। पश्चिमी विद्वान् ई.जे. टामस की स्वीकारोक्ति को उन्होंने उद्धृत किया है–"हमारी व्याख्याओं का मार्ग अवरुद्ध है और कोई भी दृष्टिकोण सर्वसम्मत नहीं हो पा रहा है। लुडविग, केगी, पिशल, गैल्डनर ओल्डेनबर्ग आदि जर्मन विद्वानों अथवा बेरगेञ, रेग्नो, हेनरी आदि फ्रैंच विद्वानों के कार्य को देखकर यही कहना पड़ता है कि वैदिक अध्ययन की दशा स्वस्थ नहीं है। हमें पश्चिम में इसका भान हो रहा है कि यह महती समस्या सुलझी नहीं है। भाषामात्र अथवा देवताओं के प्राकृतिक रूप को मानकर जो व्याख्याएँ की गई है वे मृगमरीचिका सिद्ध हुई हैं, यद्यपि कुछ अंग्रेजीभाषी लोग अभी उनके पीछे दौड़ रहे हैं।"[2]

इसकी पुष्टि भारतरत्न डा. भगवानदास के सुपुत्र तथा महाराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल श्रीप्रकाश के नाम लिखे उनके पत्र (21.10.58) से होती है। उसके कुछ अंश हैं–"यह वैदिक तत्त्व है क्या? इसकी कुछ चर्चा आपके समक्ष करने के लिए मन प्रवृत्त हुआ है। ऋषिप्रज्ञा को सृष्टिविद्या का जो परिचय हुआ था उसे ही वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों की संकेतभाषा में भर गये हैं। आज के भौतिक विज्ञान के साथ उसका अविरोध है। मूलभूत देवतत्त्व क्या है? प्राण या शक्ति का क्या स्वरूप है? यह भौतिक जगत् क्या है? उसमें काल तत्त्व का क्या स्थान है?---- अग्नि तत्त्व क्या है? इन्द्र कौन है? ये और इन समान सैकड़ों अन्य प्रश्न ऐसे हैं जिनका बुद्धिगम्य उत्तर दिया जा सकता है और इसी के लिए वेदादिशास्त्रों की (ओर) प्रवृत्ति हुई। यह अद्भुत नवीन सामग्री एक बार दृष्टि स्वच्छ होने पर सामने आ रही है। मेरा विचार है कि कई सहस्र वर्षों से छूटी हुई परम्परा हमारे हाथ आ रही है और हमारा कर्त्तव्य है कि अर्वाचीन जगत् को इससे परिचित कराएँ। यह धर्म क्या, यह तो सृष्टिविज्ञान की भाषा है। अति उदार, सुनिश्चित और अर्थवती इस भाषा की व्याख्या प्रकाशित हो जाए तो शताब्दी तक वेदविद्या या सृष्टिविज्ञान के अर्थों से अपने देशवासी परिचित हो सकेंगे।"

उरुज्योति के प्रथम चार निबन्धों में क नामक प्रजापति की चर्चा है। वह अनिरुक्त प्रजापति केन्द्र है, बिन्दु रूप है। वही अनिरुक्त नाना आकृतियों से व्यक्त होकर निरुक्त प्रजापति बनता है। वृत्त बिन्दु का रूप है। त्रिभुज, चतुर्भुज, पञ्चभुज, षड्भुज आदि अनन्त भुजाओं वाली आकृतियाँ एक वृत्त की ही रूपान्तर हैं। किसी का भी रूप देखो,

बिन्दु की ही महिमा प्रतीत होती है। बिन्दु इन्द्र है, वह अपनी माया से नाना रूपों में प्रकट हो रहा है। *ऋग्वेद* में कहा है–

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते तदस्य युक्ता हरयः शता दश।। ऋग्वेद 6.47.18

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' में इसी 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' का भाव ही स्पष्ट होता है। प्रो. अग्रवाल ने *महाभारत, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों* के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध किया है कि हमारी परम्परा नाना विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता के इस अन्तर्यामी सूत्र को नहीं भूलती।

'वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएँ' शीर्षक लेख में शरीर के लिए प्रयुक्त विभिन्न वैदिक प्रतीकों जैसे क्षेत्र, रथ, देवपुरी, दैवीवीणी, दैवीनाव आदि की व्याख्याएँ की गई हैं।

'वाजपेयविद्या' निबन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट किया है कि वीर्यं वै वाजः (शत. 3.3.4.7) अन्नं वै वाजः (शत. 5.1.4.3) औषधय खलु वाजः (तै.ब्रा. 1.3.7.1) जो इस वाजशक्ति को भीतर पचा लेते हैं वही तेजस्वी वाजपेयी होते हैं। युवावस्था वाजपेय-युग का युग है। इस वाजपेयविद्या के रहस्य से अपरिचित रहने के कारण ही आज हमारे युवक निस्तेज हो रहे हैं।

अङ्गिरस् अग्नि और 'नमः प्राणाय यस्य सर्वमिदं वशे' इन दोनों निबन्धों में प्राण की महिमा की व्याख्या है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में याज्ञवल्क्य ऋषि देवों का निरूपण करते हुए अन्त में सर्वमूलक एक देवस्वरूप का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं–

कतम एको देव इति? प्राण इति
स ब्रह्म तदित्याचक्षते।

शतपथ ब्राह्मण में प्राण की अन्य संज्ञाएँ हैं–

प्राणो हि प्रजापति	4.5.5.13
प्राणो वा अर्क	10.4.1.23
अमृतमु वै प्राणः	9.1.2.32

कौषीतकि उपनिशद् में कहा है–

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा	3.3

अथर्ववेद के प्राणसूक्त में अनेक प्रकार से प्राण की महिमा का वर्णन है। वही योगविद्या का आधार है। प्रो. अग्रवाल 'पशु और मनुष्य' शीर्षक निबन्ध में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–"मनुष्य के भीतर प्राण या जीवन शक्ति (Life Force) सबसे अधिक आश्चर्य की वस्तु है। मनुष्य क्या है? वह प्राण और अपान के दो संयुक्त तारों का एक टुकड़ा है। जैसे विद्युत्प्रवाह के साधनीभूत दो विभिन्न ऋण धन तारों का एकत्र मिलन रहता है वैसा ही तत्त्व नरदेह की इस चमत्कारपूर्ण कारीगरी में है। वह इन दो प्राणों के संयोग से स्वयं पूर्ण है। इनके तारतम्य के विच्छिन्न हो जाने से (Short Circuit) प्राण प्रवाह उखड़ जाते हैं। इस प्राणधारा का संयोग विश्वव्यापी महाप्राण से है जो वायु, जल, अन्न आदि नाना रूपों में हमारे चारों ओर फैला हुआ है। महाप्राण के साथ सामञ्जस्य की प्राप्ति ही देहस्थ प्राण के लिए अमरपन है। यही पुरातन योग है। इसी सामञ्जस्य का नाम समाधि है। इससे भिन्न व्याधि है।

पुरुष प्रजापति लेख में *शतपथ ब्राह्मण* के आधार पर पुरुष या मानव को ही प्रजापतिका प्रतीक माना गया है। पुरुषः प्रजापति (शतपथ 6.2.1.23)। पुरुष को प्रजापति का निकटतम इसीलिए कहा है क्योंकि वह प्रजापति का तद्वत् रूप है। (शतपथ 4.3.4.3) प्रजापति मूल है तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है। पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा (शतपथ 7.5.2.17)

उस सहस्त्रात्मा या अनन्त प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है। स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं। जो छन्द है वही प्रजापति है। (प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत् – शतपथ 8.2.3.10)। प्रो. अग्रवाल लिखते हैं–वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप शान्त समुद्र भरा हुआ था। शक्ति के उस शान्त सागर में न कोई तरंग थी न क्षोभ था। किन्तु न जाने कहाँ से कैसे और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी, उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे जो प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गये। इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्कालीन गर्भित अवस्था (हिरण्यगर्भ) में उत्पन्न हुए---- हमारे सौरमण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है। प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्त्रात्मा प्रजापति की प्रतिभा है और वह भी ऐसी प्रतिभा है जो विश्वरूप है जिसके मूलकेन्द्र में सब रूपों का निर्माण होता है--- उस अनन्त संज्ञक पूर्ण से यह प्रत्यक्ष आदित्य रूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा विज्ञान और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होती है। वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ता इतना अब निश्चयपूर्वक जान पाये हैं।

प्राचीन भारतीय परम्परा और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का समन्वय

प्रो. अग्रवाल वेदविद्याध्ययन के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय परम्परा तथा आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दोनों को साथ लेकर दोनों का समन्वय करते हुए चलते हैं। उनका अभिमत है कि हम "शान्त मन और जिज्ञासा के भाव से भारतीय दृष्टि और पाश्चात्य दृष्टि की तुलना करके सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में उनके भेद और साम्य को समझने का प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली आवश्यकता वैदिक परिभाषाओं की बुद्धिपरक व्याख्या है, जिसके द्वारा अर्वाचीन मस्तिष्क उन सूत्रों को अपने ज्ञान के साथ जोड़ सके।"[3]

अपने तीन हिन्दी निबन्ध संग्रहों तथा दो अंग्रेजी लेख संग्रहों के माध्यम से उन्होंने यही कार्य किया है। उरुज्योति में तेईस शीर्षकों के अन्तर्गत वैदिक परिभाषाओं और वैदिक सूत्रों की व्याख्याएँ हैं जिनमें दार्शनिक गम्भीरता भी है और नवीन चिन्तन भी। ये शीर्षक हैं–

1. *क*	2. *संप्रश्न*	3. *रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव*
4. *एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति*	5. *द द द*	6. *ब्रह्मपुरी*
7. *वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएँ*	8. *ब्रह्मचर्य*	9. *वाजपेयविद्या*
10. *च्यवन और अश्विनी कुमार*	11. *अंगिरस अग्नि*	12. *नमः प्राणाय यस्य सर्वमिदं वशे*
13. *दाक्षायण हिरण्य*	14. *वरुण की पृश्नि गौ*	15. *चरैवेति चरैवेति*
16. *शुनःशेप*	17. *पशु और मनुष्य*	18. *पाप्मा वै वृत्रः*
19. *योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि*	20. *अमृत आधार*	21. *इन्द्र*
22. *अरुन्धती*	23. *आश्रमविषयक योगक्षेम*	

इनमें से चार निबन्ध *अंगिरस् अग्नि, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, संप्रश्न तथा इन्द्र, वेदविद्या* पुस्तक में भी सम्मिलित किये गये हैं।

शेष तेईस निबन्ध हैं–

1. *वैदिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण*	2. *ऋषिर्दर्शनात्*	3. *गुहा*
4. *अमृत*	5. *पुरुषप्रजापति*	6. *आयुष्टोम*
7. *सविता*	8. *छन्दमर्यादा*	9. *सोम*

10. *मेध तत्त्व*	11. *जिज्ञासा*	12. *अनन्त या सहस्र*
13. *विराट् और वामन*	14. *अश्वत्थ*	15. *काल*
16. *देश*	17. *ऋत*	18. *सत्य*
19. *ज्योति*	20. *पूर्णकुम्भ*	21. *वैदिक परिभाषाएँ*
22. *प्रजापतिविद्या*	23. *सरस्वती*	

वेदरश्मि में, जो 1964 में प्रकाशित हुई, प्रो. अग्रवाल के वैदिक सृष्टिविद्यापरक दस लेख संगृहीत हैं। जिनके शीर्षक हैं–

1. *कः प्रजापति*	2. *अग्नि*	3. *हिरण्यगर्भ*
4. *अग्नि के तीन भ्राता*	5. *अज एकपाद्*	6. *गौरी*
7. *सुपर्ण*	8. *नासदीय सूक्त*	9. *पुरुष प्रजापति*
10. *गायत्री*		

प्रो. अग्रवाल के ये लेख *"स्पार्क्स फ्राम दी वैदिक फायर"* रूप में पहले अंग्रेजी में छपे थे। जिनका हिन्दी में अनुवाद भी स्वयं उन्होंने किया है। इन लेखों में अभिव्यक्त गहन चिन्ता का अनुमान प्रो. अग्रवाल के इन शब्दों से लगाया जा सकता है जो उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका के अन्त में दिये हैं। वे लिखते हैं–"इन लेखों के द्वारा हम पाठकों को उन प्राचीन आश्रमों के उन वातावरणों में ले जाना चाहते हैं, जहाँ वेदार्थ का मनन किया जाता था। जहाँ सब विद्याओं की मूल ब्रह्मविद्या पर लोग विचार करते थे। जहाँ अमृत अक्षर तत्त्व के जिज्ञासु एकत्र होते थे। जहाँ परब्रह्म और अवर विश्व के विषय में और उन दोनों को मिलाने वाली परापरविद्या के विषय में मीमांसा की जाती थी। यह वेदों के युग की सर्वोपरि निधि है। इसका अत्यधिक विस्तार है और परिभाषाएँ भी अनेक हैं। आशा है इन लेखों में आये हुए संक्षिप्त विवेचन से इस विषय में पाठकों को वैदिक विज्ञान रूपी सूर्य की कुछ रश्मियाँ स्पष्ट दिखाई देंगी। यही इस *वेदरश्मि* पुस्तक की चरितार्थता है"[4] उसी भूमिका में वेदव्याख्या के विषय में अपने दृष्टिकोण को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं।–"मेरी दृष्टि में वेदविद्या, सृष्टिविद्या दोनों समान हैं। विश्व अर्थात् आधिदैविक जगत् और आध्यात्मिक प्राणविद्या इन दोनों का स्रोत जो सर्वोपरि देवतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व है, वह भी मन्त्रों का लक्ष्य है। इस प्रकार विश्वसृष्टि और व्यष्टिगत प्राणसृष्टि यही वेदार्थ के लक्ष्य हैं। ये दोनों मानव के लिए आवश्यक हैं।

प्रतीकात्मक व्याख्या

इस निष्ठा से वेदों का अध्ययन इस क्षेत्र में नवीन रस प्रदान करता है। मेरी यह भी आस्था है कि वैदिक मन्त्रों के शब्दों और अर्थों में खींचातानी करने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रों के अर्थ सरल एवं स्वाभाविक हैं, किन्तु उनके मूल में गूढ़ तत्त्व निहित हैं। जिन्हें निदान-विद्या के द्वारा उद्घाटित किया जा सकता है। इन्हें ही प्रतीक अर्थ भी कहते हैं।"[5] वेदव्याख्या में डा. अग्रवाल की प्रतीकात्मक व्याख्या-शैली के दर्शन उनके लेखों में सर्वत्र होते हैं। जैसे *इन्द्र* शीर्षक निबन्ध में इन्द्र को विश्व में सर्वव्यापक शक्ति तत्त्व का प्रतीक माना है। शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्य प्राण भी इन्द्र है। विश्व में मूलशक्ति एक है पर उसके रूप वनस्पति, पशु, मानव आदि अनेक हैं। इसी प्रकार शरीर की मूलभूत शक्ति एक है पर वही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राण, मन आदि अनेक रूपों में कार्य करती है। शरीर में इन्द्रियों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उसके मूल में इन्द्रशक्ति सक्रिय है। इन्द्र का रथ यह शरीर है। इस रथ में दो अश्व हैं प्राण और अपान। उन्हें ही अश्विनीकुमार कहते हैं।[6]

सोम शीर्षक निबन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर सोम के कई अर्थ बताकर उसे प्रमुख रूप से वीर्य का

प्रतीक माना है। यह वीर्य जिन नस नाड़ियों में व्याप्त रहता है वे ही सोमवल्ली हैं। इनको ही केन्द्रीय नाड़ीजाल कहते हैं। *अथर्व* वेद में सोम से पूर्ण जिस कलश की बात कही गई है वह मस्तिष्क है।[7] यह शरीर ही सोम कूटने का ग्रावा है।[8] नाड़ीजाल के तीन भाग हैं।

(1) सर्वोच्च मस्तिष्क – द्युलोक
(2) मध्य मस्तिष्क – अन्तरिक्ष
(3) मेरुदण्ड – पृथिवी

अश्वत्थ शीर्षक निबन्ध में अश्वत्थ को संसार का प्रतीक माना है। *तैत्तिरीय ब्राह्मण* में ऋग्वेद के ऋषि के उस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि हे विद्वानों! अपने से ही पूछो कि किस महावन के किस महावृक्ष में इस विश्व को बनाकर उसे अपने में धारण करके प्रजापति सबका अधिष्ठाता बना हुआ है? *तैत्तिरीय ब्राह्मण* की उक्ति है–ब्रह्म वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था जिसमें द्युलोक और पृथिवीलोक तराशे गये हैं। प्रो. अग्रवाल इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं–"एक विश्व एक महावृक्ष है। ऐसे कोटि-कोटि वृक्ष या ब्रह्माण्डों की जहाँ सत्ता है, वह ब्रह्मवन है। ब्रह्म का वह कल्पनातीत स्वरूप सबसे परे होने के कारण परात्पर कहा जाता है। परात्पर ब्रह्मवन के एक-एक महावृक्ष में सहस्र-सहस्र शाखाएँ हैं। ..... यही अनन्त ब्रह्माण्ड का काव्यमय निदर्शन है"[9]

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के पहले दूसरे श्लोकों में उसी संसार रूपी अश्वत्थ का वर्णन है। वहाँ इसे ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं कहा है।[10] प्रो. अग्रवाल के अनुसार वहाँ ऊर्ध्व और अधः का अर्थ साधारण ऊपर नीचे नहीं है बल्कि केन्द्र का नाम ऊर्ध्व है और परिधि का नाम अधः है। केन्द्र ही अव्यय है। त्रिभुज से सहस्रभुज पर्यन्त बहुरूपी आकृतियाँ केन्द्रबिन्दु के सहारे बनती और मिटती हैं पर केन्द्र सदा अविकारी अविचल एकरस अव्यय बना रहता है। केन्द्र के विषय में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई की कल्पना नहीं होती। पर केन्द्र से ही नाना आकृतियों का विस्तार होता है 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' के पीछे यही तथ्य है।

केन्द्र अव्यक्त है, अनिरुक्त है, परिधि देखने में विस्तृत पर केन्द्र की अपेक्षा सदा अल्प है क्योंकि परिधि के परिमाण और वर्णन की इयत्ता है, केन्द्र का नहीं। केन्द्र या स्व की और गति समाधि है, परिधि या संसार की ओर गति व्याधि है। ऊर्ध्वमूल और अधः शाखा वाले अश्वत्थ रूप संसार में दोनों की सत्ता है। ज्ञानियों की दृष्टि इसके ऊर्ध्व या अमृतभाग का ग्रहण करती है।[11]

'वैदिक परिभाषाएँ' शीर्षक निबन्ध में अश्वत्थ-विद्या को 'पंचपुण्डीरा विद्या' भी कहा है। पुण्डीर का अर्थ है पर्व या पोरी। मनुष्य शरीर विश्वनिर्माता प्रजापति के विश्वरूपी वृक्ष की एक टहनी है। इसी शाखा पर जीवरूपी भोक्ता सुपर्ण बैठा है और उसी के साथ ईश्वर रूपी साक्षी सुपर्ण भी है। दोनों एक साथ रहने वाले सयुज सखा हैं। इस शरीर रूपी शाखा की पाँच पोरियाँ हैं–1. इन्द्रियों वाला स्थूल संस्थान, 2. इसके भीतर मन, 3. मन के भीतर बुद्धि, 4. बुद्धि से आगे महान् और उससे भी आगे की पहली पौरी अव्यक्त आत्मा है। यह तो शाखा का पिण्डगत रूप है।

दूसरे ब्रह्माण्डगत रूप में एक-एक विश्व महान् अव्यय वृक्ष की एक-एक शाखा है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी ये उसके पाँच पर्व हैं। ये सृष्टि के विकास की पाँच अवस्था विशेष हैं जो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल भाव में प्रकट होती हैं।

सृष्टिविद्या का अध्ययन

इस प्रकार अनेक वैदिक परिभाषाओं की व्याख्याएँ प्रो. अग्रवाल ने की है। उनके द्वारा की गई *ऋग्वेद* के *नासदीय सूक्त, अस्यवामीय सूक्त* तथा *अथर्व* वेद के *पृथिवीसूक्त* की व्याख्याएँ विशेष महत्वपूर्ण है। *ऋग्वेद* के ये दोनों सूक्त सृष्टिविद्या के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अस्यवामीय सूक्त तथा नासदीय सूक्त जिनकी गणना

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों द्वारा क्लिष्टम सूक्तों में की जाती है; उनके अर्थों का उद्घाटन प्रो. अग्रवाल ने प्रतीकात्मक व्याख्या द्वारा प्रस्तुत किया है।

नासदीय सूक्त की व्याख्या करते हुए प्रो. अग्रवाल लिखते हैं[12] "इसमें सृष्टिविद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में यह अपनी समानता नहीं रखता। विश्वसाहित्य में भी दार्शनिक तत्त्वों का एकत्र ऐसा संक्षिप्त विवेचन दुर्लभ है।"[13]

प्रो. अग्रवाल इस सूक्त के मन्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में (1) सदसद्वाद (2) रजोवाद (3) व्योमवाद (4) अपरवाद (5) आवरणवाद (6) अम्भोवाद (7) अमृतमृत्युवाद (8) अहोरात्रवाद (9) देववाद (10) संशयवाद को प्रस्तुत करते हुए उन सबकी व्याख्या करते हैं। *ऋग्वेद* के अन्य मन्त्रों, *अथर्व* वेद के मन्त्रों तथा *शतपथ ब्राह्मण* के साक्ष्य के आधार पर इन वादों का वर्णन उन्होंने किया है। सदसद्वाद की पुष्टि *ऋग्वेद* के दशम मण्डल के पाँचवें सूक्त के सातवें मन्त्र से की है। असत् और सत् दोनों परमव्योम में विद्यमान थे। इस प्रसंग में वे *ऋग्वेद* के दशममण्डल के बहत्तरवें सूक्त के दूसरे मन्त्र को उद्धृत करते हैं जहाँ कहा है–

'देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत' देवों के पूर्व युग में असत् से सत् का जन्म हुआ। असत् और सत् क्या हैं? इस विषय में *शतपथ ब्राह्मण* का हवाला देते हुए बताया है कि असत् का अर्थ है ऋषिसृष्टि और ऋषिसृष्टि का अर्थ है प्राणसृष्टि। प्रो. अग्रवाल का कथन है कि सत् और असत् इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अभिप्राय दार्शनिकों को इष्ट था।

नासदीय सूक्त का दूसरा सिद्धान्त रजोवाद है। रजस् की व्याख्या में दो मत दिये हैं–एक के अनुसार लोक की संज्ञा रजस् है और सात लोक हैं–भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इन्हें ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्राण और चेतना भी कहते हैं। दूसरे मत के अनुसार रजस् के दो प्रकार हैं शुक्ल और कृष्ण। रजस् का अर्थ है गति तत्त्व। इस विश्व की जो गति है या स्पंदन है वह एक समञ्चन और प्रसरणात्मक गति के रूप में प्रकट हो रही है, जिसे *शतपथ ब्राह्मण* में प्राण कहा है।[14]

तीसरा सिद्धान्त व्योमवाद है। इस विश्व का जो मूलभूत स्थिर स्रोत है उसे परमव्योम कहा गया है। वह अजायमान है अमृत है। उसका उलटा दूसरा तत्त्व अपरमव्योम है जिसे मर्त्य कहते हैं। परमव्योम से जो विश्व जन्म लेता है वह सर्वप्रथम भौतिक आकाश तत्त्व है और वही क्रमशः पंच भूतों के रूप में प्रकट होता है।

चौथा वाद अपरवाद है। पर और अपर, ये दोनों सापेक्ष सिद्धान्त हैं। *नासदीय सूक्त* के पाँचवें मन्त्र में इसे परस्तात् और अवस्ताद कहा है।[15] *पुरुषसूक्त* में परस्ताद् को उर्ध्व और अवस्ताद को अधः कहा है। यह जो विश्ववृक्ष को ऊर्ध्वमूल कहा है उसका यही अर्थ है कि इस वृक्ष के मूल व्योम या परतत्त्व में स्थिर हैं। प्रो. अग्रवाल के अनुसार जो केन्द्र है वह पर है और जो मंडल है वह अपर है।

पाँचवा सिद्धान्त आवरणवाद है जो 'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्' में वर्णित है। जो भौतिक है वह सीमित होता है यही आवरणवाद का तत्व है। इसी का दूसरा नाम माया है। पौराणिक साहित्य तथा ब्राह्मणग्रन्थों की सहायता लेकर वह इस आवरण की व्याख्या करते हैं। नासदीय सूक्त में इस आवरण को शर्म भी कहा है जिसका अर्थ है रक्षा। प्रत्येक आवरण एक रक्षाकवच होता है।

छठा अम्भोवाद का सिद्धान्त है जिसके अनुसार सृष्टि का आरम्भ तत्त्व 'जल' कहा है अम्भः, आपः, सलिलः, समुद्रः, ऋत ये सभी लगभग पर्याय हैं।

डा. अग्रवाल के अनुसार जल या आपः का अर्थ है वह स्थितिशील अवस्था जिसमें सम्पूर्ण पृथिवी लीन थी और अभी व्यक्त नहीं हो पाई थी। उसी प्रकार की अव्यक्त या स्थितिशील व्यवस्था से गति या प्रकाश का जन्म

होता है। जल ही मातृतत्त्व था जिसने अग्नि को जन्म दिया। इसीलिए अग्नि को अपागर्भः, अपां नपात् कहा है। *ऋग्वेद* के अनुसार वैश्वानर अग्नि जलों में प्रविष्ट था।

'वैश्वानरो यास्वग्निः प्रतिष्ठस्ता आपे देवीरिह मामवन्तु'।।[16]

अग्नि को ऋत से सर्वप्रथम उत्पन्न कहा है।[17]

ऋत का धरातल अथवा आपः और अम्भः का मूल तत्त्व सोम है और उसका विपरीत तत्त्व अग्नि है।

प्रो. अग्रवाल अग्नि, इन्द्र, सूर्य, मनु, अहं, यज्ञ, अमृत, सत्य, देव, अक्षर, काल, प्रजापति, प्राण, ज्योति, पिता, अहः, संवत्सर ये सब प्राण-अग्नि की संज्ञाएँ मानते हैं।

इनके विपरीत ऋत, आपः अम्भः, सलिल, समुद्र, वरुण, असुर, अहि, वृत्र, मृत्यु, अपान, पृथिवी, माता, रात्रियाँ तम आदि सोम की संज्ञाएँ हैं।[18]

सातवाँ सिद्धान्त अमृतमृत्युवाद है। स्थिति तत्त्व अमृत है गतितत्त्व मृत्यु है। देव अमृत के प्रतीक हैं और भूत मृत्यु के। अग्नि का सम्बन्ध दोनों से है। देवाग्नि सूर्य में है, भूताग्नि पृथिवी में है। जन्म अमृत का रूप है मृत्यु मर्त्य का। दोनों एक ही वृत्त के अर्ध-अर्ध भाग हैं और इनसे ही कालचक्र की गति पूर्ण होती है।

आठवाँ अहोरात्रवाद है। अहोरात्र काल की एक इकाई है, जिसमें ब्रह्मा की समस्त शक्ति निहित है। वह शक्ति स्वयं संवत्सर है। यह पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घुमा रहा है। मध्यस्थ केन्द्र में जो सूर्य है वही प्रजापति है उसे वैदिक परिभाषा में अश्व भी कहा जाता है। वह सबको गति प्रदान करता है। ज्योति और तम, कृष्ण और शुक्ल अग्नि और सोम सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु, स्वर्ग और पृथिवी ये अहोरात्र के ही विविध रूप हैं। रात्रि स्थिति की प्रतीक है। अहः गति का प्रतीक है, रात्रि निद्रा है, अहः जागरण है।

पौराणिक प्रतीक शेषशायी विष्णु की व्याख्या भी प्रो. अग्रवाल इसी प्रसंग में करते हैं। विष्णु का अर्थ है विवेष्टि। विवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः। व्याप्त होने की कल्पना तभी सम्भव है जब उसके लिए कोई आवर्तन या पात्र हो, जिसमें वह तत्त्व व्याप्त हो सके। इन सात तत्त्वों का आधार वह अनन्त तत्त्व है जिसे अनन्त, शेष भी कहते हैं। पुराणों की परिभाषा में जो लोक हैं वह सर्प कहलाते हैं और उन अनन्त लोकों की समष्टि में वह एक विश्व समाया हुआ है अर्थात् विष्णु अनन्त की शय्या पर सोते हैं। यह सान्त और अनन्त के सम्मिलन की संकल्पना है।[19]

देववाद के अनुसार देवों के जन्म के साथ ही यज्ञ का आरम्भ होता है। विश्व एक सतत यज्ञ है। अग्नि इसका देवता है। जहाँ अग्नि है वहाँ सब देवों की स्थिति है। देवता कितने हैं? उनका स्वरूप क्या है? इस विषय में प्रो. अग्रवाल लिखते हैं-'एक मत यह था कि अग्नि और सोम दो ही मूलभूत देवता हैं। अग्नि देवों को जन्म देता है और सोम भूतों का।"[20] अग्नि के जन्म का पहला सत्य है मानस दूसरा प्राण और तीसरा वाक् या पंचभूत। मानस तत्त्व को ब्रह्माग्नि, प्राणतत्त्व को देवाग्नि और वाक् तत्त्व को भूताग्नि या पृथिवी कहते हैं। दैववाद के अनुसार समस्त सृष्टि देवों की अर्थात् दिव्यशक्तियों की अभिव्यक्ति है। संशयवाद से तात्पर्य ऋषियों की जिज्ञासा से है कि सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? कब हुई? कैसे हुई? बड़े साहस के साथ ऋषि का कथन है कि पता नहीं इस सृष्टि का अध्यक्ष जो इसे जन्म देता है वह भी इसे जानता है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। जो देव हैं वे भी सृष्टि के बाद हुए इसलिए कौन जानता है कि यह कहाँ से उत्पन्न हुई।[21]

सृष्टिवाद सम्बन्धी इन वादों का संकेत करते हुए *नासदीय सूक्त* के ऋषि ने सृष्टि के मूलतत्त्व की व्याख्या भी दूसरे तीसरे मन्त्रों में कर दी है। सृष्टि से पूर्व मूल कारण वह एक था जिसे तदेकम् कहा है। विश्व को इदम् कहा है। उस परात्पर ब्रह्म ने श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया आरम्भ की, यह प्राणन क्रिया किसी भौतिक तत्त्व पर आश्रित नहीं थी। इसलिए इसे आनीत् अवातं कहा है। इसे ब्रह्म की स्वधा या स्वशक्ति कहा है। यह विश्व तब सलिल के नीचे

था। उस अवस्था में पाँच भूत जलों के भीतर अज्ञात अवस्था में छिपे थे। तीसरे मन्त्र में कहा है कि तुच्छ्य से आभु अपिहित था। प्रो. अग्रवाल तुच्छ्य और आभु दोनों को पारिभाषिक शब्द बताते हुए इनकी व्याख्या सीमाभाव और ब्रह्मन् देते हैं। तुच्छ्य मण्डल है और आभु केन्द्र। विश्व की रचना के लिए सीमाभाव आवश्यक है। मण्डल को ही सीमाभाव कहते हैं। केन्द्र अव्यक्त है, विश्व व्यक्त है।

इसी प्रकार *अस्यवामीय सूक्त* की व्याख्या करते हुए प्रो. अग्रवाल सृष्टिविद्या से सम्बद्ध अनेक विद्याओं का विवेचन करते हैं। ऋषि प्रश्न उपस्थित करता है कि इस विश्व की नाभि या केन्द्र कहाँ है और उत्तर देता है कि यह यज्ञ ही इस विश्व की नाभि या केन्द्र है। उनके अनुसार नाभि, हृदय, उक्थ, ऊर्ध्व, क, गर्भ, मध्य, ये सब केन्द्र की संज्ञाएँ है। यही एकम् है जो अपने विष्कम्भ के रूप में बनता है और उससे ही मण्डल की सृष्टि होती है। प्रो. अग्रवाल का विचार है कि वैदिक ऋषि नाना प्रकार के संकेतों से सृष्टि के मूल तत्त्वों की ओर हमें ले जाते हैं। गौ, अश्व, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न, मही माता इन सब प्रतीकों के माध्यम से सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या वेदों में हुई है। उनके अनुसार जो इन प्रतीकों का अर्थ जानता है वही *ऋग्वेद* के दर्शन के प्रति न्याय कर सकता है।

ब्रह्म अन्तिम तत्त्व है जिसमें कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। वही सृष्टि का मूल है। वह एक है और कुछ लोग उसे ही बहुधा नामों से और रूपों में देखते हैं।

अस्यवामीयसूक्त को गैल्डनर ने ब्रह्मोद्य कहा है जिसका आशय है कि इसके अधिकांश मन्त्र पहेली या बुझौवल के रूप में हैं। डा. कुन्हनराजा भी इस सूक्त को पहेलियों से भरा मानते हैं, जिनके अर्थ धुँधले पड़ गये हैं और जिनकी कुंजियाँ खो गई हैं। प्रो. अग्रवाल इस सूक्त की शैली की गम्भीरता को तो स्वीकारते हैं पर इस बात को नहीं मानते कि ऋषि दीर्घतमस् ने जानबूझकर इस सूक्त को क्लिष्ट बनाया है। उनके मन में इस सूक्त को ऋग्वेदीय विद्याओं की अनुक्रमणिका कहा जा सकता है। ऋषि ने जिस ऊँचे धरातल से सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों का परिगणन चाहा था वहाँ तक ऊँचे उठ कर सोचा जाए तो सूक्त के अर्थ बहुधा प्रसन्न हो उठते हैं। प्रो. अग्रवाल के अनुसार इस सूक्त में निम्नलिखित बत्तीस विद्याओं का उल्लेख है।[22]

	मंत्रसंख्या
अग्नि के तीन भ्राता विद्या	1
सप्ततन्तुविद्या	5
अज-विद्या	6
गोविद्या	7, 8, 9, 27-28
अविचाली ऊर्ध्व तत्त्व	10
वक्रविद्या	11, 12, 13, 14
प्राणविद्या	15
स्त्रीपुमान् विद्या	16
परापरविद्या	17-19
सुपर्णविद्या	20-22
त्रिसुपर्णविद्या	23-25
धर्मविद्या	26
जीवविद्या	30
गोपा विद्या	31

मातृपितृविद्या	32-33
यज्ञविद्या	34-35
सप्तार्धगर्भविद्या	36
ऋतस्य प्रथमजा वाक्	37
मर्त्यामर्त्यायोनिविद्या	38
अक्षरविद्या	39
भगवती अहन्या गोविद्या	40
शराक्षर विद्या	42
उक्षापृश्निविद्या	43
त्रयः केशिनः विद्या	44
चतुष्पदी वाक्	45
एकं सत् बहुधा	46
आपोलोकविद्या	47
संवत्सरचक्रविद्या	48
सरस्वती की अमृतपोषणविद्या	49
यज्ञद्वयविद्या	50
पर्जन्यविद्या	51
दिव्य सुपर्णविद्या	52

सूक्त के प्रथम मन्त्र में अग्नि के तीन भ्राताओं का उल्लेख है।[23] निरुक्त भाष्य के अनुसार यास्क ने अग्नि, वायु और आदित्य को तीन भ्राता माना है। सायण की व्याख्या भी यही है। सायण के पूर्ववर्ती आत्मानन्द की टीका के अनुसार ये तीन भाई चित्स्वरूपक आत्मा की तीन अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति हैं।[24] प्रो. अग्रवाल इन्हें जीवनतत्त्व के तीन लक्षण वृद्धितत्त्व, अन्न अन्नाद तत्त्व और प्रजनन तत्त्व मानते हैं। जहाँ जीवन है वहाँ छोटे से बड़ा होना अवश्यम्भावी है। एक को बालक दूसरे को वृद्ध कहा जाता है। जो वामन है वही विराट् रूप में आता है।

'वामनो ह विष्णुरास' (शतपथ 1.2.5.5) वामन और विराट्, केन्द्र और परिधि, बिन्दु और मण्डल, अणु और महान् इन द्वन्द्वों में महान् भेद दिखाई देता है पर तत्त्वतः दोनों एक हैं। दोनों का अन्तर वृद्धि या महिमा भाव पर है। इस मन्त्र में वाम और पलित इन दो शब्दों से इसी ओर संकेत किया गया है।[25]

जीवन का दूसरा लक्षण अन्न ग्रहण है। जहाँ प्राण की सत्ता है वहाँ अन्न और अन्नाद का नियम अनिवार्य है। फल, शाक, धान्य, दुग्ध आदि समस्त अन्न सोम के रूप हैं। इसी सोम को खाकर प्राणाग्नि जीवित रहती है। इसलिए अग्नि का दूसरा भाई अशनः कहा है। अन्न खाना और उससे शक्ति उत्पन्न करना यह प्रकृति सिद्ध यज्ञ प्राणी शरीर का अनिवार्य धर्म है। यही अग्नि का मंझला भाई सबके भीतर है। जो निरन्तर खाता है और पचाता है। अग्नि का तीसरा भाई घृतपृष्ठ है 'रेतो वै घृतम्' (शत. 9.2.3.44) जीवन का तीसरा लक्षण रेतस् या प्रजनन है। जीवन का यही स्वभाव है कि वह जिस बीज से उत्पन्न होता है, स्वयं परिपक्व होने पर उसी प्रकार के बीज का निर्माण करता है। बीज से प्रारम्भ होकर पुनः बीज तक पहुँचना यही जीवन का चक्र है। शरीरस्थ प्राणाग्नि और घृत या रेत तत्त्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वही रेत तत्त्व अग्नि का तीसरा भाई है।

प्रो. अग्रवाल अग्नि के इन तीन भाइयों की पहचान पुराणों के त्रिदेव विष्णु, ब्रह्मा, शिव से भी करते हैं। वृद्धि का नियम विष्णु है, अन्न अन्नाद नियम ब्रह्म है, प्रजनन नियम शिव है। (शिव अर्धनारीश्वर है – मातृपितृविद्या इस मन्त्र में अग्नि को सप्त पुत्र) कहा है। मन, प्राण और पंचभूत ये ही सात पुत्र हैं। एक ही मूल प्राणाग्नि इन सात रूपों में विभक्त होकर शरीर को धारण करती है। अस्यवामीय सूक्त के इस प्रथम मन्त्र में जिस अग्नि के तीन भाइयों और सात पुत्रों का उल्लेख है, वह वैश्वानर अग्नि है; जिसकी पहचान प्रो. अग्रवाल जीवन तत्त्व से करते हैं। मन्त्र का अन्तिम भाग 'अत्रापश्यं विश्पति सप्तपुत्रम्' सूचित करता है कि इस रहस्यमय प्राणाग्नि का दर्शन इसी शरीर में संभव है।

जो मूल में एक है वही पहले त्रिक भाव में आता है और त्रिक से मन, प्राण और पंचभूतों का सप्तधा रूप बनाता है।

इस प्रकार सृष्टिविद्या से सम्बन्ध अनेक वैदिक प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ प्रो. अग्रवाल के ग्रन्थों में मिलती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध परम्परागत अर्थों को दृष्टि में रखकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

सृष्टिविद्या से सम्बद्ध *ऋग्वेद* के सूक्तों के अतिरिक्त *अथर्व* वेद के पृथिवी सूक्त की व्याख्या प्रो. अग्रवाल की वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। *अथर्व* वेद के बारहवें काण्ड का त्रेसठ मन्त्रों का यह सूक्त प्रो. अग्रवाल को इतना प्रिय था कि उनकी अनेक कृतियों में इसका प्रयोग हुआ है। **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** तो उनका प्रेरणा सूत्र ही बन गया दिखता है। 31 दिसम्बर 1943 को श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे पत्र में इस सूक्त के विषय में उन्होंने अपने भाव इस प्रकार प्रकट किये हैं–

राष्ट्रभक्ति का प्रेरणासूत्र

"अथर्व वेद का *पृथिवी सूक्त* (12.1.1-63) पृथिवी पुत्रीय भावना का आदि स्रोत है। उसके अध्ययन से अनमोल सामग्री मिली है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में सबसे पहले पृथिवीसूक्त के 63 मन्त्रों का अध्ययन करा देना चाहिए और सामूहिक रूप से उसे कंठ कराना चाहिए। राष्ट्रसंवर्धन की सभी योजनाओं और भावनाओं का वह सूत्र अक्षय्य स्रोत है। किसी पूर्व युग में सुन्दरी सूर्या के विवाह-महोत्सव में अमर्त्य देवों ने जिस कमल की गन्ध को उत्पन्न किया था, उसे आप आज फिर सूँघना चाहते हैं तो पृथिवी-सूक्त को देखिए!"[26] पृथिवी पुत्र, भारत की मौलिक एकता, माता भूमि तथा वाग्धारा इन चार निबन्ध संग्रहों में प्रो. अग्रवाल ने इस सूक्त की व्याख्या सम्मिलित की है।

वे मानते हैं कि स्थूल नेत्रों से देखने वालों के लिए यह पृथिवी मिट्टी पत्थरों चट्टानों का जमघट है किन्तु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है वे भूमि के हृदय को देख पाते हैं। मातृभूमि के साथ तादात्म्य की प्राप्ति वस्तुतः अध्यात्म साधना का ही रूप है। वैदिक ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है और सत्य से घिरा हआ अमर है।[27] पृथिवी को 'धर्मणा धृता' धर्म के बल पर टिकी हुई भी कहा है। प्रो. अग्रवाल के अनुसार सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की ही व्याख्या है। पृथिवी को धारण करने वाले इन सांस्कृतिक तत्त्वों का उल्लेख ऋषि ने सूक्त के प्रथम मन्त्र में कर दिया है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः करोतु।।

प्रो. अग्रवाल इस मन्त्र मे निहित तीन महत्त्वपूर्ण बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रथम यह कि सत्य, ऋत, दीक्षा, तप आदि शाश्वत तत्त्व जिस तरह आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं उसी तरह राष्ट्रीय जीवन

के भी आधार हैं, उन्हीं से संस्कृति का निर्माण होता है, दूसरे राष्ट्र के साथ पृथिवी का सम्बन्ध संस्कृति के द्वारा ही स्थिर रहता है। तीसरे यह कि सांस्कृतिक विजय के मार्ग में पृथिवी की दिक् सीमायें अनन्त हो जाती है। यही पृथिवी का उरुलोक प्रदान करना है।[28]

पृथिवी के स्थूल रूप का सौन्दर्य भी अतीव रमणीय है। उन्नत प्रदेश, निरन्तर बहने वाली नदियाँ हरे-भरे समतल मैदान, छोटे गिरिजाल और हिमराशि का श्वेत मुकुट बाँधे हुए महान् पर्वत, इन सबका वर्णन पृथिवी सूक्त में है। उत्तर के उच्च पर्वतों की तरह ही मातृभूमि का सम्बन्ध दक्षिण के महासागरों से भी है, जिनका जल ही मेघों के रूप में बरस कर नदियों, निर्झरों मे बहता है और अन्न को उत्पन्न करने में सहायक होता है।[29] उत्तर और दक्षिण का यह भौतिक सम्बन्ध बहुत गहरा है। वनस्पतिजगत् पशुपक्षिजगत् भी मातृभूमि की सन्तान हैं।[30] मातृभूमि का महत्व उसकी खनिज सम्पत्ति से भी है, जिससे राष्ट्र का कोश भरा रहता है। यह पृथिवी विश्वंभरा, वसुधानी और हिरण्यवक्षा है। यह रत्नों, मणियों और सुवर्ण को देने वाली है।[31] इस भूमि पर बसे हुए नगर ग्राम देवों ने बनाये हैं। यहाँ के दूरस्थ भागों को जोड़ने वाले राजमार्ग हैं, जहाँ छकड़े भी चलते हैं और रथ भी। भूमि के स्थूल शरीर की सजावट इन सबसे है, परन्तु तप ज्ञान और संकल्प से युक्त जन समूह उसके रूप की विशेष समृद्धि करते हैं। सूक्त के पैतालिसवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रो. अग्रवाल लिखते हैं–"हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य इस सूक्त के सचाई के साथ स्वीकार किया गया है, वह यह है कि भाषा, जन और धर्म की दृष्टि से हमारी अनेक विभिन्नताएँ हैं। यहाँ अनेक प्रकार के जन रहते हैं जो अनेक भाषाएँ बोलते हैं और नाना धर्मों को मानने वाले हैं।[32] इन विभिन्नताओं के होते हुए भी उन सबमें एक ही तार इस भावना का पिरोया हुआ है कि वे सब पृथिवीपुत्र हैं और पृथिवी उनकी माता है। प्रो. अग्रवाल के अनुसार वैदिक ऋषि की दृष्टि में यह ऐक्य भाव दो रूपों में प्रकट होता है। एक तो उस कन्ध के रूप में है जो पृथिवी के प्रत्येक परमाणु में, औषधियों, वनस्पतियों में, पशु-पक्षियों में, इस धरती के स्त्री पुरुषों में सर्वत्र बसी हुई है। मातृभूमि के पुत्र पुत्रियाँ अपने पौरुष और लावण्य में उसी गंध को धारण करते हैं। मातृभूमि की यह छाप हम सबके मस्तक पर लगी है और हम विश्व के किसी भी भाग में जाएँ अपनी यही पहचान हमारे साथ रहती है कि हम भारतीय हैं। ऐक्य का दूसरा रूप अग्नि या ज्योति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। मर्त्य लोग अपनी साधना से उस अग्नि को प्रज्वलित करके अमर्त्य बनाते हैं। मातृभूमि के जिन पुत्रों-पुत्रियों में यह अग्नि प्रकट हो जाती है वे अमृतत्व या देवत्व को प्राप्त करते हैं। वस्तुतः भावना की अग्नि ही देवता है, जिसके द्वारा मातृभूमि के पुत्र देवत्व का भाव प्राप्त करते हैं।

आठवें मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि वह भूमि जिसका हृदय अमृत और सत्य से ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्र में हमारे लिए तेज और बल को देने वाली हो। राष्ट्र के स्वरूप के विषय में प्रो. अग्रवाल कहते हैं कि भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। भारत राष्ट्र के इस वेदकालीन राष्ट्रगान के अध्ययन द्वारा प्रो. अग्रवाल ने मातृभूमि के स्वरूप तथा भूमि और जन के बीच 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की सशक्त अनुभूति का परिचय दिया है।

संदर्भ

1. अग्रवाल वा., वेदविद्या पृ. 23
2. वेदविद्या पृ. 221
3. वेदविद्या पृ. 222
4. वेदरश्मि भूमिका पृ. 4
5. वही
6. वेदविद्या पृ. 279

7. सोमेन पूर्ण कलशं बिभर्षि। अथर्व. 9.4.5
8. बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्। अथर्व. 9.4.5
9. वेदविद्या पृ. 162
10. भगवद्गीता 15. 1-2
11. वेदविद्या पृ. 165-166
12. ऋग्वेद 10.129.1-7
13. वेदरश्मि पृ. 67
14. प्राणौ वै समञ्चनप्रसारणम् श.ब्रा. 8.1.4.10
15. रेतोधा आसनमहिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्। ऋग्वेद 10.129.5
16. ऋग्वेद 7.49.4
17. अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य। ऋग्वेद 10.5.7
18. वेदरश्मि पृ. 71
19. वही
20. वही
21. इयं विसृष्टि आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।। ऋग्वेद 10.129.7
22. वेदरश्मि पृ. 36
23. अस्य वामस्य परितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो असत्यशनः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।। ऋग्वेद 1.164.1
24. वेदरश्मि पृ. 37
25. वहीं पृ. 40-41
26. पृथिवीपुत्र पृ. 194-95
27. अथर्ववेद 12.1.8 यस्याः हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतमृतं पृथिव्याः।
28. पृथिवीपुत्र पृ. 31
29. अथर्ववेद 12.1.2 यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
30. वही 12.1.3
31. वही 12.1.3
32. वही 12.1.6; 12.1.44 वही 12.1.45.
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य में दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।

•